सिएटल, (यू.एस.ए.)
२ सितम्बर, २००४

संदेश संख्या – ७४

अद्वैतामृतवर्षिणी

(संदेश ७३ से आगे)

२८ श्लोकों के इस संदेश में संदेश ७१ में सूचीबद्ध ११ से १३ तक की प्रक्रियायें प्रस्तुत हैं । अध्याय और श्लोक संख्या पूर्ववत् इंगित हैं ।

११. शुद्ध जीवन, पवित्र अस्तित्व और शाश्वत सद्‌गुण

६.१७ योग में चेतना विचारक और विचार में विभाजित नहीं होती और यदि व्यक्ति भोजन एवं भ्रमण में, कर्म एवं प्रयत्नों में तथा निद्रा एवं जागरण में संयत रहे तो यह सभी दुःखों का नाश कर देती है ।

१६.१ निर्भयता, शरीर की स्वच्छता, अखण्डित एवं विकल्परहित सचेतनता के प्रति दृढ़ता, दानशीलता, तप, संयम, अपरिग्रह का भाव, समर्पण, स्वाध्याय और सत्यनिष्ठा शाश्वत सद्‌गुण हैं।

१६.२ अहिंसा (द्वेषशून्यता), यथार्थ–दर्शन, क्रोध एवं असहिष्णुता का अभाव, त्याग, शांति, पिशुनता (निंदा–भाव) का अभाव, सभी जीवों के प्रति करूणा, लोभ से मुक्ति, सज्जनता, विनम्रता, चंचलता का अभाव भी शाश्वत सद्‌गुण हैं ।

१६.३ तेज, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, प्रतिक्रिया–शून्यता, निरहंकार – ये सभी भी शाश्वत सद्‌गुण हैं । ये वस्तुतः उन्हीं लोगों की निधि और सम्पदा होती हैं जिनका प्रारब्ध गौरवपूर्ण एवं दिव्य होता है।

१८.२० पवित्र ज्ञान वही है जिसके द्वारा व्यक्ति सभी जीवधारियों में एक ही अविनाशी तथा अशरीरी जीवन का दर्शन करता है तथा उसी अविभाजित अनभिव्यक्त को सभी अलग–अलग जीवधारियों में भी देखता है ।

१८.४२ शांति, संयम, तप, मांगलिकता, क्षमा, सत्यनिष्ठा, ज्ञान, विज्ञान (प्रज्ञा) और पूर्ण चैतन्य में श्रद्धा स्वाभाविक क्रतव्य है जो अस्तित्व में रहते हुए शुद्ध जीवन जीने से उत्पन्न होते हैं ।

१८.४६ सर्वदा आसक्तिरहित बुद्धिवाला, अनुबंधित–प्रतिक्रियाओं से मुक्त, काल्पनिक आकांक्षाओं एवं प्रयोजनों से मुक्त और वस्तुओं तथा विचारों के प्रति अपरिग्रह की भावना द्वारा व्यक्ति कम (कार्य–कारण) से मुक्ति का परम पद प्राप्त करता है ।

१८.५३ अहंकार, बल, दर्प, पूर्वानुमान, क्रोध, परिग्रह की प्रवृत्ति, स्वार्थपरता और चित्त की चंचलता का त्यागकर ही व्यक्ति पवित्र अस्तित्व के साथ एकाकार होने के योग्य होता है ।

१२. अनभिव्यक्त, अज्ञेय

७.१७ प्रज्ञावान पुरूष जो सर्वदा अखण्ड–चेतना में रहता है तथा अनभिव्यक्त के प्रति भक्ति रखता है, वह वस्तुतः विशिष्ट होता है। सर्वव्यापक चैतन्य को वह व्यक्ति अत्यन्त प्रिय होता है तथा उसके लिए भी अनभिव्यक्त प्रिय होता है ।

७.२४ यद्यपि ''मैं'' अनभिव्यक्त हूँ किंतु साधारणजन 'मेरा यथार्थ' जो कि अविनाशी तथा असीम अनन्तता है, को नहीं समझकर मुझे व्यक्त रूप में मानते हैं ।

७.२५ ''मैं'' साधारणजन जो मन की कल्पनाओं (चाहना, भोग–विलास करना, चिन्ता करना, युद्ध करना) से आवृत होते हैं, के प्रति व्यक्त नहीं होता । यह विभ्रांत संसार 'मुझ' आदिरहित तथा अविनाशी को नहीं पहचानता ।

७.२६ ''मैं'' (सर्वव्यापक चैतन्य) मृत, जीवित तथा भविष्य में होने वाले (भावी), सभी जीवधारियों को जानता हूँ । लेकिन अनभिव्यक्त ''मैं'' अज्ञेय हूँ ।

७.२७ महत्वाकांक्षा, द्वेष, विकल्पों एवं अवधारणामूलक विपरीत–युग्मों से उत्पन्न दूषित प्रभाव के कारण भी प्राणी विभेदकारी चित्तवृत्ति रूपी मोह में फँस जाते हैं।

७.२८ वे जो चेतना में द्वैत की भ्रांति से मुक्त हो जाते हैं, पूर्ण एवं पवित्र क्रिया (प्रतिक्रिया नहीं) को उपलब्ध होते हैं तथा इससे पाप का अन्त हो जाता है और द्वन्द्व का सृजन भी नहीं होता । ऐसे लोग 'मुझे' समझते हैं तथा मेरी पूजा दृढ़ता से करते हैं ।

७.२९ जो मुझे समझते हैं और मुझमें श्रद्धा रखते हैं, वे नाश तथा मृत्यु से मुक्त हो जाते हैं वे अपनी सभी क्रियाओं में ''पूर्ण शून्यता (ब्रह्म)'' में होते हैं जो इनके अन्तर–अस्तित्व को परिपुष्ट भी करता है ।

७.३०. जो मुझे जन्म, पोषण एवं संहार–इन तीनों का आदिरहित स्रोत के रूप में जानते हैं, वे मृत्यु के अंतिम क्षण में भी अपनी पूर्ण चेतना में इसी बोध के साथ युक्त रहते हैं ।

१३. स्थितप्रज्ञता की ऊर्जा

२.५५ जब व्यक्ति अपने मन के सभी प्रयोजनों और इच्छाओं का त्याग कर देता है तब वह अखण्ड सजगता में रहता है । इसमें व्यक्ति खण्डित चित्तवृत्ति और मूल अखण्ड चेतना के मध्य मौलिक रूपान्तरण द्वारा संतोष को पा लेता है और तब वह स्थितप्रज्ञ होता है।

२.५६ जो दुःख में उत्तेजित नहीं होता और सुख में अनुरक्त नहीं होता, जिसकी आसक्ति, भय, क्रोध दूर हो चुके हैं और जिसकी बुद्धि स्थिर है, वह मुनि कहा जाता है ।

२.५७ जो सर्वत्र अनासक्त रहता है और यह या वह, अच्छा या बुरा, सबका सामना करते हुए न प्रसन्न होता है न अप्रसन्न, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ।

२.५८ जब व्यक्ति का इन्द्रियजनित प्रत्यक्ष बोध विषय–वासना में परिवर्तित नहीं होता, जैसा कि कछुआ अपने अंगों को अपने कवच के अंदर समेट कर करता है, तब उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है ।

२.५९ विषय–वासना का परिहार होने के बाद भी उससे एक सूक्ष्म–सम्बन्ध बना रह सकता है । परन्तु परम–चैतन्य की झलक पाते ही वह भी समाप्त हो जाता है ।

२.६० हठधर्मी विषयवासना धैर्य के प्रति प्रतिबद्ध प्रज्ञावान पुरूष को भी विचलित कर देती है ।

२.६१ विषय–वासना को संयमित कर तथा इन्द्रियाँ जिस कार्य के लिए अभिप्रेत हैं उसी तक सीमित रखकर व्यक्ति को ''जो है'' अर्थात् 'पूर्णता' यानी कि 'चैतन्य' के दर्शन के लिए ऊर्जा के संचय हेतु शांतिपूर्वक बैठना चाहिए । तभी उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है ।

२.६४ जब आसक्ति और विरक्ति रहित इन्द्रियजनित प्रत्यक्षबोध सहजरूप से नियन्त्रण में होता है तथा स्वयं विषय–वासना से दूर रहता है तब प्रशांति स्वतः एवं बिना प्रयत्न के प्राप्त हो जाती है ।

२.६५ प्रशांत अवस्था में सभी दुःख स्वतः समाप्त हो जाते हैं और इस तरह आनन्दमयी में चेतना तुरन्त स्थिर बुद्धि को प्राप्त हो जाती है ।

२.६६ इन्द्रियाँ जिस कार्य के लिए अभिप्रेत हैं उसी तक सीमित न रहने पर तथा पूर्णता पर प्रयत्नरहित अवधान (attention) न होने पर, न प्रज्ञा सम्भव है और न ही शांति । जो शांत नहीं है, उसके लिए सुख कैसे सम्भव है ?

२.६९ जो मुनि है वह समझता है कि आत्मकेन्द्रित (अहंकार–केन्द्रित) गतिविधियाँ मूर्च्छा की अवस्था में की जाती हैं जबकि साधारणजन के लिए वही जागृति प्रतीत होती है। और जब मुनि अपने कर्मों में ध्यानशील जागरूकता की अवस्था में पूर्णतः जाग्रत होता है तो साधारणजन उसे सुप्तावस्था में समझते हैं ।

२.७१ जो सभी इच्छाओं का त्याग कर देता है, सभी कामनाओं से मुक्त होकर कार्य करता है, अर्जन–संग्रहण के प्रति तटस्थ है और मद–मिथ्याभिमान से मुक्त है वह शांति को प्राप्त होता है ।